



द्रव्यदृष्टि प्रकाशमें से दृष्टि का परिणमन और द्रष्टि का विषय सम्बन्धित पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजी के चयन किये गये वचनामृत

(कितने ही लोग) समझे बिना, द्रव्य में पर्याय नहीं है... नहीं है- ऐसा ले लेते हैं। लेकिन 'पर्याय नहीं है,' ऐसा कौन कहता है!! दृष्टि का विषयभूत-‘अपरिणामी’-पर्याय से अलग है, उसमें पर्याय का अभाव है, उसमें पर्याय नहीं है-ऐसा कहते हैं। ('द्रव्य' शब्द का प्रयोग दो प्रकार से होता है : (१) प्रमाण के विषयभूत पदार्थ को द्रव्य कहते हैं। (२) निश्चयनय के विषयभूत अपरिणामी द्रव्यस्वभाव को भी द्रव्य कहते हैं। पहले में पर्याय का सद्भाव है तथा दूसरे में असद्भाव है। अतएव जहाँ जो प्रकरण हो वह तदनरूप अर्थघटन करना चाहिए।) ५६६.

‘परिणाममें से अहम्पना हटना और त्रिकाल स्वभाव में अहम्पना करना,’ वह शुद्धजीव का (परिणामस्वभाव) स्वरूप है। ५६९.

(निज सुख के लिए) सारे जगत् में बस.... 'मैं ही एक वस्तु हूँ और कोई वस्तु है ही नहीं।' अरे! दूसरी कोई वस्तु है या नहीं है, ऐसा विकल्प भी क्यों? ५७८.

परिणाम मात्र व्यवहार है। परिणाम की दृष्टि से दीनता आती है। पर्याय में रुकने से एकांत दुःख होता है। परिणाम उत्पाद-व्यय स्वरूप है। 'मैं' तो अपरिणामी हूँ, जिसमें उत्पाद-व्यय नहीं है; निगोद से लेकर सिद्ध तक वैसा का वैसा ही हूँ। परिणाम में प्रसरने से परिणाम जितना हो जाएगा। (क्षणिकपरिणाम जितना ही अपना जीवन (अस्तित्व) ग्रहण करने से - ऐसे मिथ्यात्व के फलस्वरूप-निगोद का क्षणिक जीवन प्राप्त होता है।) ५८३.

'मैं' तो विकल्प मात्र से और परिणाम मात्र से रहित हूँ। ५८५.

दर्पण में समय-समय पर आकार (प्रतिबिंब जैसा) होता रहता है, तो भी दर्पण का दल ज्यों का त्यों रहता है। ऐसे ही, 'स्वभाव' दर्पण के दल जैसा है; वह स्वयं के साथ तादात्म्य है, आकार के साथ नहीं। त्रिकाली में वर्तमान परिणमन का अभाव है। ५८९.

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४६: अंक-२७५, वर्ष-२४, नवम्बर-२०२०

आषाढ कृष्ण ६, शुक्रवार, दि. ८-७-१९६६, योगसार पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, गाथा-८० प्रवचन-३०

देखो! कहा है न इसमें? 'पंचह संजुत्तु' यह... फिर अन्तिम है 'बे-पंचहं गुणसहिउ' नीचे है। 'भेददृष्टि से आत्मा का मनन करते हुए उसे दस लक्षण धर्मरूप विचार करना चाहिए।' (दूसरे पैराग्राफ की पहली) लाइन है न? 'बे-पंचहं गुणसहिउ' दस प्रकार के मुनि के धर्म है न? समिति आदि, उन दस प्रकार के धर्म से विचार करना वह व्यवहारनय है, भेददृष्टि है। निश्चय से तो मैं मात्र ज्ञायकस्वभाव हूँ। उसका ध्यान करना, वही निश्चय है। व्यवहार से 'भेददृष्टि से आत्मा का मनन करते हुए, उसे दस लक्षण धर्मरूप विचारना चाहिए।'

'यह आत्मा क्रोध विकार के अभाव से पृथ्वी के समान उत्तम क्षमा गुण का धारक है।' कोई पृथ्वी खोदे, कोई टुकड़े करे तो पृथ्वी कुछ बोलती है? उसकी उपमा दी है, हाँ! शास्त्र में आता है। 'पृथ्वी के समान उत्तम क्षमा गुण का धारक है।' पृथ्वी को कोई खुदावे, काटे, तोड़े, छोड़े, टुकड़े करे तो पृथ्वी कहीं सामने क्रोध करती है? गहरे गड्ढे (करे) विष्टा डाले, गड्ढा करके अन्दर विष्टा डाले तो पृथ्वी कहती है कि ऐसा नहीं करो? ऐसे ही क्रोध विकार के अभाव से क्षमा गुणधारी भगवान आत्मा ऐसी क्षमा रखता है। क्षमा करता है। ज्ञाता-दृष्टा रहकर क्षमा (करता है), हाँ!

'मान के अभाव से उत्तम मार्दव गुण का धारक है।' आत्मा मार्दव-कोमल गुण का पिण्ड ही आत्मा है। मार्दव-निर्मानस्वरूप है - ऐसी दृष्टि करके निर्मानता प्रगट करना।

'माया के अभाव से उत्तम आर्जव गुण का धारक है।' सरल, सरल। यह किसलिये लेना है? त्याग में ले जाना है इसलिए। यह त्याग, त्याग करते हैं न अभी? दसवें त्याग धर्म। माया के अभाव से उत्तम आर्जव गुणधारी - सरल। 'असत्य ज्ञान के अभाव से उत्तम सत्य धर्म का धारक है।' वहाँ सत्यस्वरूप का धारक ही आत्मा है। 'लोभ के अभाव से उत्तम शौच गुण धारक पवित्र है।' आत्मा अन्दर सन्तोषस्वरूप ही भगवान आत्मा है। उसकी दृष्टि करके स्थिर होना, वही आत्मा के कल्याण का मार्ग है।

'असंयम के अभाव से स्वरूप में रमणतारूप उत्तम संयमगुणधारी है।' लो, उत्तम संयमगुणधारी। दस प्रकार के धर्म की व्याख्या चलती है। 'सर्व इच्छाओं का अभाव होने से आत्मा का एक शुद्ध वीतरागभाव से तपना...' देखो, सर्व इच्छाओं का अभाव होने से आत्मा का एक शुद्ध वीतरागभाव से तपना वह उत्तम तप गुण है। बाहर के तप तो व्यवहार है। अपनी वीतरागदशा में एकाकार होकर शुद्धता से

तपना, शुद्धता का प्रतपन करना, उसका नाम उत्तम (तप) गुण है। 'यह आत्मा परम तपस्वी है।' इस अपेक्षा से तो आत्मा परम तपस्वी त्रिकाल है। उसका ध्यान करना, उसे परम तपस्वी कहते हैं।

यहाँ अन्य लोग त्याग की बात करते हैं न? 'यह आत्मा अपनी शुद्ध परिणति...' निर्मलदशा। रागरहित

शुद्ध पूर्ण स्वभाव में एकाग्र होकर शुद्ध पर्याय द्वारा 'आत्मानन्द स्वयं को ही देता है...' लो, अपनी शुद्धपरिणति को अपनी दशा में स्वयं रखता है, 'वह ही उत्तम त्यागधर्म है।' लो, यह त्यागधर्म की व्याख्या। अन्य लोग कहते हैं न त्याग? समझ में आया? दस प्रकार के त्यागधर्म में ऐसा कहते हैं यह त्याग। पुस्तक छोड़ना, किसी को

ज्ञान देना - ऐसा देना, वह त्यागधर्म है, वह सब तो व्यवहार की बातें हैं, वह तो विकल्प उत्पन्न होता है न? यह पुस्तक दें, इसे ज्ञान होवे तो ठीक, ऐसा (विकल्प) निश्चय... निश्चय -त्यागधर्म की व्याख्या यह है कि अपने शुद्धस्वरूप पूर्णानन्द प्रभु में एकाकार होकर शुद्ध दशा को प्रगट करना, इसमें अशुद्धता का त्याग (होता है), उसे त्यागधर्म कहा जाता है। आहाहा...! समझ में आया?

'इस आत्मा के उत्तम आकिञ्चन्य गुण है।' क्या (कहते हैं)? 'इस आत्मा में अन्य परमात्माओं का, पुद्गलद्रव्य का धर्म, अधर्म, काल, आकाश का अभाव है,' यह आकिञ्चन्य गुण है। मेरे स्वरूप में कोई है ही नहीं। राग नहीं, शरीर नहीं, कर्म नहीं,

परद्रव्य नहीं - ऐसी अन्तर आत्मा में भावना करना, उसका नाम आकिञ्चन्य-भाव -आकिञ्चन्य धर्म कहा जाता है। आत्मा अपरिग्रहवान है, त्रिकाल अपरिग्रहवान है। उस अपरिग्रहवान का ध्यान करना, अपरिग्रह की परिणति प्रगट करना, उसका नाम आकिञ्चन्य धर्म कहा जाता है। 'परम असंग है।' यह आकिञ्चन्य की व्याख्या की।



'यह आत्मा उत्तम ब्रह्मचर्यगुण का धारक है। निरन्तर ब्रह्मभाव में मग्न रहता है।' यह तो उत्तम ब्रह्मस्वरूप तो अनादि अनन्त है, उसमें लीन होना, वह उत्तम ब्रह्मचर्य है। कहो, समझ में आया? काया से ब्रह्मचर्य (पालन करे, वह) तो व्यवहार है। आत्मा

ब्रह्मानन्द भगवान पूर्णानन्दस्वरूप, ब्रह्मानन्दस्वरूप आत्मा ही है। उसमें एकाकार (होकर) आनन्द में रहने का नाम ब्रह्मचर्य कहा जाता है। 'इस प्रकार दस लक्षण धर्म का विचार करना अथवा अपने आत्मा को दस गुणसहित विचार करना।' दूसरे दस लक्षण कहे हैं। क्या?

'यह आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, अनन्त दान, अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग, अनन्त वीर्य, अनन्त सुख - इन दस विशेष गुणों का धारक परमात्मस्वरूप है, यह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होने पर भी आत्मज्ञ और आत्मदर्शी है।' यह पहला गुण - अनन्त ज्ञान की व्याख्या की, भाई! आत्मा

अनन्त ज्ञानस्वरूप है - ऐसा भेद से विचार करना, हाँ! यह तो सब भेद से विचारते हैं; वस्तु तो अखण्ड है। अभेद में तो अकेला ज्ञायक चैतन्यस्वरूप पर दृष्टि करके ध्यान में लीन हो जाना, वही अभेददृष्टि, वही ध्यान और वही मोक्ष का मार्ग है।

ऐसा विचारना कि 'सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होने पर भी...' आत्मा सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, तथापि 'आत्मज्ञ और आत्मदर्शी है।' सर्व को जानने-देखनेवाला है, तथापि आत्मज्ञ और आत्मदर्शी है। समझ में आया? कहते हैं न? सर्वज्ञ को व्यवहार हुआ न? व्यवहार हुआ न? ऐसा कहते हैं। व्यवहार तो पर की अपेक्षा से (कहते हैं) परन्तु सर्वज्ञपना और सर्वदर्शीपना अपना स्वभाव ही आत्मज्ञ और आत्मदर्शी, सर्वज्ञ और सर्वदर्शीपना है। समझ में आया? ज्ञ - वही आत्मज्ञ है, आत्मज्ञ वही सर्वज्ञ है। ऐसा नहीं है कि सर्वज्ञ अर्थात् पर को जानना व्यवहार है, (इसलिए) व्यवहार झूठा है - ऐसा नहीं। आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी स्वभावधारी भगवान आत्मा है- ऐसा अन्तर में मनन करना, वह भी भेद है, पुण्य का विकल्प है। अन्तरस्वरूप एकाकार की दृष्टि करके अनुभव करना, वह निश्चयधर्म है। समझ में आया?

'वह ज्ञेय की अपेक्षा से सर्वज्ञ, सर्वदर्शी कहलाता है।' देखो, ज्ञेय की अपेक्षा से कहलाता है, बाकी अपने ज्ञान की अपेक्षा से तो आत्मज्ञ और आत्मदर्शी है। 'शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारक होकर निरन्तर आत्मप्रतीति वर्तता है।' लो! शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारक, त्रिकाल, हाँ! उसकी दृष्टि करके 'निरन्तर आत्मप्रतीति में वर्तता है।' भगवान आत्मा निश्चय में, अन्तर स्वभाव में तो निरन्तर प्रतीति में वर्तमान ही आत्मा है, त्रिकाल। ऐसी दृष्टि की, तब त्रिकाल प्रतीति में वर्तमान है - ऐसा भान हुआ। श्रद्धा में लिया कि यह आत्मा पूर्णानन्द है तो जब प्रतीति में पूर्ण आत्मा आया तो वह आत्मा त्रिकाल प्रतीतमान ही वर्तमान है, त्रिकाल

अपनी प्रतीति करने सहित ही आत्मा है - ऐसा प्रतीति में आया। समझ में आया?

'सर्व कषायभावों के अभाव से परम वीतराग यथाख्यातचारित्र से विभूषित है।' भगवान आत्मा सर्व पुण्य-पाप के विकल्प, कषाय से रहित वीतरागचारित्र है। जब अपनी पर्याय में भी वीतरागता प्रगट की तो आत्मा त्रिकाल वीतरागचारित्र सम्पन्न था - ऐसा अनुभव में आया। समझ में आया? 'आपके आनन्द को आपको देता है, अनन्त दान करनेवाला है।' पर को दान कौन दे? वह तो जड़ की क्रिया है, वह तो होनेवाली होवे तो होती है। दान का विकल्प, शुभभाव आता है, वह पुण्य है। 'आपके आनन्द को आपको देता है...' में आनन्दमूर्ति हूँ, अतीन्द्रिय आनन्द हूँ - ऐसा अन्तर में एकाकार होकर अपनी पर्याय में-अवस्था में आनन्द का दान देना, वह अपने में दान दिया - ऐसा कहा जाता है। ओ...हो...! समझ में आया? 'आपके आनन्द को आपको देता है...' आपके आनन्द को आपको देता है... आहा...हा...! ठीक लिखा है। आहार-पानी देना वह तो जड़ की क्रिया है, वह कहाँ आत्मा कर सकता है? उसमें शुभभाव होवे, वह पुण्य है।

मुमुक्षु : देना या नहीं देना?

उत्तर : कौन दे? देने में जो भाव आता है, वह शुभभाव है, शुभभाव है।

मुमुक्षु : पैसा होवे तो भी दूसरे को भूखा रखना?

उत्तर : कौन रखे? रखे कौन और दे कौन? समझ में आया? एक रजकण भी उसके कारण से हिलता-चलता है तो वह रजकण आत्मा चलावे-दे, यह तीन काल में आत्मा में नहीं है। एक रजकण, परमाणु भी यहाँ आता है, जाता है, वह उसके कारण होता है। आत्मा एक रजकण को भी नहीं दे सकता, ले सकता है - (ऐसा अर्थात् लेना-देना) आत्मा में है ही नहीं। राजमलजी! एक रजकण को भी नहीं कर सकता तो परमेश्वर कहाँ

से हुआ? रजकण का कुछ नहीं करता और परमात्मा हुआ? अनन्त बल (धारक हुआ)?

मुमुक्षु : साधारण मनुष्य बहुत करता है और भगवान कुछ नहीं करते?

उत्तर : कौन करता है? साधारण (मनुष्य) धूल भी नहीं करता। अज्ञानी राग करता है। राग और द्वेष करता है। दुनिया का व्यापार-धन्धा तीन काल में कभी वह नहीं करता। ऐसा होगा? मलूकचन्दभाई! दुकान की पैठी पर बैठकर धन्धा करे वह तो सब पुद्गल की क्रिया है। कहो, समझ में आया? 'अनुभवप्रकाश' में बहुत लिखा है। उसमें - 'आत्मावलोकन' में भी लिखा है। समझ में आया? है न?

मुमुक्षु : उसमें तो लिखा है, पुद्गल के हैं?

उत्तर : हाँ, वह पुद्गल की बात है। वह सब पुद्गल का खेल है, उसे आत्मा कहाँ करे? समझ में आया? 'अनुभवप्रकाश' में पीछे है। खाना, पीना, हरना, फिरना सब जड़ की क्रिया है। अनुभवप्रकाश, 'दीपचन्दजी', 'दीपचन्दजी' साधर्मि हो गये हैं, दो सौ वर्ष पहले दिगम्बर में (हुए हैं)। बहुत सरस! पहले तो दिगम्बर के गृहस्थ भी ऐसे थे, पण्डित भी बहुत आत्मार्थी थे। अनुभवप्रकाश यहाँ है, लो! यहाँ है (पृष्ठ-६५)।

'दस प्रकार का परिग्रह - क्षेत्र, बाग, नगर, कुँआ, बाबड़ी, तालाब, नदी, आदि...' जितने पुद्गल कहते हैं। वे सब पर हैं, उन्हें आत्मा कुछ नहीं कर सकता। 'माता-पिता, कलत्र, पुत्र-पुत्री, वधु-बन्धु, स्वजन आदि... सर्प, सिंह, व्याघ्र, गज, महिषा आदि सब दुष्ट, अक्षर, अनक्षर, शब्दादि, गाना-बजाना, स्नान, भोग, संयोग, वियोग की सब क्रिया, परिग्रह का मिलाप, वह बड़ा, परिग्रह का नाश वह दरिद्र इत्यादि समस्त क्रिया...' यह सब जड़ की क्रिया है। 'चलना-बैठना, हिलना, बोलना, कंपना, इत्यादि समस्त क्रिया; लड़ना,

बाँह भरना, चढ़ना-उतरना, कूदना, पढ़ना, खेलना, गाना, बजाना इत्यादि समस्त क्रियाएँ - यह सर्व पुद्गल का खेल जाना।'

मुमुक्षु : खाना नहीं आया?

उत्तर : आया न! क्या नहीं आया? खाना नहीं आया? यह आया देखो! 'नर, नारक, तिर्यञ्च, देव, उनका वैभव, भोग-करण, विषयरूप इन्द्रियों की क्रिया आदि सर्व पुद्गल का नाटक है।' लो, पुद्गल का खेल है। यह हिले चले, वाणी निकले, व्यापार-धन्धा यह तो जड़ की क्रिया है। आत्मा उसे करे? दीपचन्दजी ने बनाया है। समझ में आया? '...आदि समस्त पुद्गल का अखाड़ा है।' यह सर्व इन्द्रियादि, क्रिया आदि पुद्गल नाटक है। 'द्रव्यकर्म, नोकर्म आदि सर्व पुद्गल का अखाड़ा है। उसमें तू चिदानन्द रञ्जित होकर अपना जानता है। अपने दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि अनन्त गुण के अखाड़े में परिणति पात्र नाचते हैं, स्वरूपस उपजाते हैं। जितने गुण हैं, उतने को वेदते हैं, सर्व भाव (-स्वरूप) सत्ता...' यह फिर दूसरा लिया है। यह सब पुद्गल के खेल हैं। यह पकाना-खाना, यह चूल्हा होना, अग्नि जलना, पानी छनना, यह सब जड़ की क्रिया, पुद्गल का नाटक है।

मुमुक्षु : किये बिना रोटियाँ होती हैं?

उत्तर : धूल भी नहीं करता। कौन करे? उसमें उसे राग-द्वेष होता है, बस! कुछ करता नहीं। कौन करे? (पृष्ठ-३५) 'इस प्रकार देह जड़ है। उसके भोग को तू अपने रूप मानकर झूठ ही जड़ की क्रिया को किसलिए अपनी मानता है?' लो! 'जैसे किसी को सर्प काटे (और) किसी दूसरे को जहर चढे तो अचरज मानते हैं। (वैसे ही) जड़ खाये, पहने, स्नान, तेल मर्दन आदि क्रिया करे (वहाँ) तू कहता है कि मैंने खाया, मैंने भोगा...' मैंने

खाया, मैंने पिया, मैंने भोग किया, वह तो जड़ की क्रिया है। आहाहा...! ये माने, वे माने नहीं। यह बीमार, बीमार है, बीमार मिथ्यात्व से बीमार रोगी हो गया है, रोगी। देखो न! यह एक दीपचन्दजी जैसे गृहस्थाश्रम में (रहते थे), जिन्होंने 'अनुभवप्रकाश' बनाया, 'आत्मावलोकन' बनाया, 'चिदविलास' बनाया। महासाधर्मी, सम्यग्ज्ञानी साधर्मी हो गये हैं।

मुमुक्षु : उसे कोई सम्बन्ध नहीं है?

उत्तर : है न! वह खेल आत्मा का नहीं है और अपने में राग होता है, वह भी मेरा स्वरूप नहीं है। मैं चिदानन्दस्वरूप हूँ - ऐसी दृष्टि करने का नाम सम्यग्दर्शन है।

मुमुक्षु : खाना-पीना या नहीं?

उत्तर : कौन खाये, पीये? कहा न यह? यह क्या आया? यह जड़ खाये, पहने और स्नान, तेल मर्दन (करे), यह तो गुजराती है, गुजराती किया है न? हिन्दी में है। अपने हिन्दी में है या नहीं? यह तो हिन्दी का अनुवाद है।

मुमुक्षु : खाना या नहीं खाना?

उत्तर : वही कहा यह। मैंने खाया, मैंने भोग किया, मैं पर का स्वामी था, पर स्वामी होता है। पर स्वामीपन ऐसा नहीं मानता और तू मूढ़ यह क्या मानता है? (ऐसा) कहते हैं। लक्ष्मी पर की। कोई ऐसा भी नहीं मानता कि यह 'माणिकचौक' में जवाहरात है, वहाँ कोई निकले वह मानता होगा कि यह मेरी लक्ष्मी है? यह ऐसा है। है? 'माणिकचौक' में जवाहरात की दुकान होवे और लोग निकलें तो ऐसा मान लें, यह मेरे जवाहरात हैं? ऐसे ही यह मूढ़ जहाँ निकला वहाँ (अपना मान लिया), पागल कहें, वैसे यह जहाँ निकले वहाँ लक्ष्मी दिखाई दी, स्त्री, पुत्र, परिवार (मेरे), यह तो परवस्तु है, तेरी कहाँ है? मूढ़।

मुमुक्षु :

उत्तर : वे कहें परन्तु भाषा ही कहाँ उनकी है। पुद्गल कहे, लड़का कहाँ कहता है? वह तो पुद्गल की भाषा है। निहालभाई! यह अद्भुत नाटक! यह तो शास्त्र में सब बात है। पहले के दिगम्बर गृहस्थ हुए - बनारसीदास, टोडरमलजी, भागचन्दजी, दानतराय, दौलतराम, दीपचन्दजी, बड़े सम्यग्ज्ञानी उनकी सभी बातें सत्य हैं। इन दो सौ वर्षों में बहुत गड़बड़ हो गयी है। अभी तो बहुत गड़बड़ हो गयी है, बहुत गड़बड़। यह बात नहीं मानते। मिथ्या है - ऐसा कहते हैं।

मैंने खाया, मैंने भोगा (ऐसा) पर का स्वामी हुआ। पर का स्वामी भी ऐसा तो नहीं मानता जैसे कि राजा, नौकर का स्वामी है (तथापि) उसके घराने से (पाठान्तर - नौकर के भोजन से तृप्त होने से राजा यह नहीं कहता कि मैं तृप्त हुआ हूँ)। फिर तू देख, तेरी ऐसी चाल तुझे ही दुःखदायक है। ऐसा विपरीत मानता है, तुझे दुःख होता है, देख! समझ में आया? 'अनुभवप्रकाश' 'चिदविलास' 'आत्मावलोकन' बहुत सरस! शास्त्र प्रमाण अन्तर दृष्टि से बहुत सरस लिखा है परन्तु अभी तो पढ़ने की निवृत्ति नहीं और दूसरे पढ़े तो शास्त्र की ऊपर दृष्टि से किस नय का कथन है, उसका पता नहीं। (अभी अज्ञानी ऐसा कहते हैं), सोनी आभूषण बना सकता है और आभूषण का फल खा सकता है। धूल भी नहीं खा सकता, सुन न! दो जगह (बात) है। हमने तो पहले हिन्दी पढा है न! हिन्दी भी व्याख्यान में पढा है और गुजराती भी पढा है।

मुमुक्षु : हिन्दी पर व्याख्यान हो गये हैं?

उत्तर : हाँ, हाँ!

देखो, क्या (कहते हैं) 'अपना आनन्द अपने को देता है...' कहो, समझ में आया? 'अनुभवप्रकाश' में ३९ पृष्ठ और ६५ पृष्ठ है। 'आपके आनन्द को आपको देता है...' भगवान आत्मा, अपने में अतीन्द्रिय आनन्द है अन्दर स्वभाव है। उसकी अन्तर एकाग्रता

करके अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट किया, वह स्वयं अपने को दिया। दूसरा कौन दे और कौन लेता है? कहो, समझ में आया? इसका नाम दान है। 'अनन्त दान करनेवाला है।'

'निरन्तर स्वआत्मानन्द का लाभ करना, वह ही अनन्त लाभ है।' निरन्तर स्वआत्मा का आनन्द (वह लाभ है) यह कैसे मिले तो लाभ हुआ, साठ वर्ष में पुत्र हुआ तो... ओ...हो...! (करता है)। धूल भी नहीं, सुन न! अपने स्वरूप में अतीन्द्रिय आनन्द है। विकार से हटकर निर्विकार आनन्द में लीन होकर अतीन्द्रिय आनन्द का लाभ अवस्था-दशा में होवे उसका नाम अनन्त लाभ कहा जाता है। लो, मलूकचन्दभाई! यह कैसे का लाभ, लाभ नहीं है - ऐसा कहते हैं। सत्य बात है?

मुमुक्षु : यह तो अनुभवसिद्ध बात है?

उत्तर : क्या अनुभवसिद्ध है? लड़के कुछ देते नहीं, ऐसा? कौन किसे दे? दो लड़के बड़े, तीन करोड़ रुपयेवाले, लो! यहाँ इतने छोटे बंगले में-मकान में रहना, लो! खोला है, वहाँ ६५ पृष्ठ निकला, यह निकला देखो! पहले जो पढा वह।

'सो कहते हैं - दस प्रकार का परिग्रह - क्षेत्र, बाग, नगर, कूप, बावड़ी, तालाब, नदी आदि सब पुद्गल; माता-पिता, कलत्र, पुत्र-पुत्री, वधू-बन्धु, स्वजन आदि सर्व (कुटुम्बीजन); सर्प, सिंह, व्याघ्र, गज, महिष आदि सब दुष्ट; अक्षर, अनक्षर शब्दादि, गाना-बजाना, स्नान, भोग, संयोग-वियोग की सब क्रिया, परिग्रह का मिलाप सो बड़ा, परिग्रह का नाश तो दरिद्रादि सब क्रिया; चलना-बैठना, हिलना-बोलना, कंपनी आदि क्रिया, लड़ना-भिड़ना, चढ़ना-उतरना, कूदना-नाचना, खेलना, गाना-बजाना आदि जितनी क्रियायें सब पुद्गल का खेल जानो।'

भाई! यह तुम्हारी हिन्दी में है। तख्तमलजी! यह तुम्हारी हिन्दी में लिया। आहाहा...! पुद्गल का खेल / क्रिया है, तो यह मानता है कि मुझसे हुई। मूढ है, तेरी दृष्टि में ही अन्तर है। आहा...हा...!

'नर, नारक, तिर्यञ्च, देव, उनका वैभव, भोगकरण, विषयरूप इन्द्रियों की क्रिया आदि सर्व पुद्गल का नाटक है। द्रव्यकर्म, नोकर्म आदि सर्व पुद्गल का अखाड़ा है, उसमें तू चिदानन्द रंजित होकर अपना जानता है। पर मैं अपनापन मानकर तू इस प्रकार दुःख प्राप्त कर रहा है कि जैसे मुर्दे को वस्त्राभूषण पहनाकर माने कि 'मैंने पहने हैं'। तू जीवन्त होने पर भी उनको झूठ ही अपना मान रहा है।' मैंने पहना, यह तो जड़ की क्रिया है। समझे न? 'इस प्रकार शरीर जड़ है; उसके भोगों को तू अपने मानकर व्यर्थ ही किसलिए जड़ की क्रिया को अपनी मान रहा है?' देह की क्रिया होती है तो कहता है कि मैंने भोग लिया। वह तो जड़ की क्रिया है, तूने कहाँ भोग लिया है? कितना स्पष्ट किया है! भोग सके, जड़ को भोग सके - ऐसा कहीं आया है?

मुमुक्षु : कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं?

उत्तर : क्या कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं? तुम्हें पता नहीं है।

मुमुक्षु : तन्मय नहीं होता?

उत्तर : तन्मय नहीं होता इसका अर्थ क्या हुआ? उसरूप हुए बिना उसका भोग कहाँ से आया? उसरूप हुए बिना उसका कर्ता कहाँ से हुआ?

'व्यर्थ ही किसलिए जड़ की क्रिया को अपनी मान रहा है? जैसे सांप काटे किसी को और विष किसी दूसरे को चढे तो अचरज मानते हैं। (वैसे ही) जड़ खाये, पीये, स्नान, तेल मर्दनादि क्रिया करे, (वहाँ) तू कहे कि 'मैंने

खाया, मैंने भोग लिया' (इस प्रकार) पर का स्वामी हुआ। सो पर का स्वामी भी ऐसा तो नहीं मानता। जैसे राजा दासों का स्वामी है। (तथापि) उनके तृप्त होने से (पाठान्तर - नौकर के भोजन से तृप्त होने से) राजा ऐसा नहीं कहता कि 'मैं तृप्त हुआ हूँ।' और तू देख, तेरी ऐसी चाल तुझे ही दुःखदायी है।' आहा...हा...! कहो यह शरीर, वाणी, मन तो जड़ है। उनका चलना, हिलना क्रिया तो जड़ का खेल है, तेरा है?

मुमुक्षु : दान तो देना या नहीं?

उत्तर : कौन दान दे सकता है? दान का भाव अपने में होता है। राग की मन्दता, पुण्य (होता है)। लक्ष्मी जाना, आना तो अपने अधिकार की बात है? भाव होता है कि इतनी लक्ष्मी दान में खर्च करूँ, वह भाव शुभभाव है, वह पुण्य है परन्तु पुण्यभाव हुआ तो लक्ष्मी जाती है - ऐसा भी नहीं है और लक्ष्मी जाना है तो शुभभाव हुआ है - ऐसा भी नहीं है और शुभभाव हुआ तो धर्म हुआ है - ऐसा भी नहीं है। अद्भुत बात, भाई! समझ में आया? 'अनुभवप्रकाश' है, भाई! देखा है कभी? दीपचन्दजी का है। दीपचन्दजी साधर्मी, 'कासलीवाल' है बहुत सरस! और सादी भाषा। हिन्दी-प्रचलित भाषा में लिखा है। व्याख्यान हो गया है।

मुमुक्षु : दो दिन न खाये वहाँ जीव कमजोर पड़ जाता है?

उत्तर : जीव कमजोर पड़ता है या शरीर? दो दिन खाने को न मिले तो जीव कमजोर हो जाता है - ऐसा कहते हैं, सेठ! दो दिन न खाये तो शरीर कमजोर या आत्मा? कौन कमजोर पड़ता है? महामुनि तो छह-छह महीने के उपवास करते हैं और ऐसी तपस्या की लब्धि होती है कि शरीर ऐसा का ऐसा रहता है। छह-छह महीने के उपवास करें और शरीर ऐसा का ऐसा, सुन्दर... सुन्दर... सुन्दर... उसमें क्या है? समझ में आया?

यहाँ पर तो कहते हैं, 'निरन्तर स्वात्मानन्द का लाभ करना, वही अनन्त लाभ है।' यह राग होना वह तेरा लाभ नहीं है, पुण्यभाव हुआ वह भी तेरा लाभ नहीं है। पर की लक्ष्मी मिली, स्त्री मिली, कुटुम्ब मिला, उसमें तुझे क्या लाभ हुआ? धूल में। आहा...हा...! 'स्वात्मानन्द का ही निरन्तर भोग है।' देखो, आत्मा आनन्दस्वरूप की दृष्टि करके आनन्द का अनुभव करना, उसका नाम भोग है। जड़ का भोग, शरीर का भोग, वह अपना है? 'अपने आत्मा का ही बारम्बार उपभोग है।' देखो! बारम्बार आनन्द का अनुभव करना वह उपभोग है। परवस्तु को कौन भोगता है? एक बार भोगने में आवे, वह भोग और बारम्बार भोगने में आवे, वह उपभोग - ऐसा कहते हैं न? परवस्तु को कौन (भोगे)? वह तो विकल्प की बात करते हैं।

'गुणों के भीतर परिणमन करते हुए कभी भी खेद नहीं पाता, वही अनन्त वीर्य है।' अनन्त वीर्य आत्मा में है। अपनी शक्ति का एकाकार परिणमन करने से जिसका बल कम नहीं होता परन्तु बल की वृद्धि होती है। कहो, समझ में आया? यह फिर तपस्या की बातें हैं, वे कुछ नहीं। कायक्लेश की बात है। निश्चय और व्यवहार प्रायश्चित्त कहा है। ठीक है।

'अभेदनय से एक अखण्ड आत्मा का ध्यान करना...' अभेदनय से एक अखण्ड आत्मा का ध्यान करना... 'तो स्वानुभव की प्राप्ति होगी।' यह लाभ हुआ। 'यही आत्मदर्शन है व यही सुख-शान्ति प्रदायक भाव है, वही आत्मसमाधि है, वही निश्चयरत्नत्रय की एकता है। मुमुक्षु जीव को निश्चिन्त होकर परमप्रेम से अपने आत्मा की ही आराधना करनी चाहिए।' यह 'वृहद् सामायिक' में कहा है। अब ८१ (गाथा) अब आँकड़े गये, पहले आँकड़े थे न? दो, चार (ऐसे)।



पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार
ग्रंथके वचनामृत-१९१ पर भाववाही
प्रवचन, दि. १७-३-१९८३, प्रवचन
क्रमांक-७३ (विषय : मार्गदर्शन)

बाहरकी विपदा—यह वास्तविक विपदा
नहीं। बाहरकी संपदा—यह संपदा नहीं है।
चैतन्यका विस्मरण ही घोर विपदा है, चैतन्यका
स्मरण (संवेदन) ही वास्तवमें सच्ची संपदा
है।१९१.

परमागमसार, पृष्ठ-३८, १९१ बोल है। 'बाहर की विपदा—यह वास्तविक विपदा नहीं। बाहर की संपदा—यह संपदा नहीं है।' संपदा और विपदा का स्तर लौकिक में और अलौकिक में बिल्कुल अलग है। बाहर में प्रतिकूलता आये उसे विपदा कहते हैं। शरीर में रोग होना, निर्धनता आनी, कुटुंब-परिवार में हानि पहुँचना, अनेक प्रकार के बाहर में आधि-व्याधि-उपाधि के जितने प्रसंग हैं, उसे जगत में विपदा कहते हैं। सारा जगत - सभी संसारी जीव उसे विपदा कहते हैं। भगवान कहते हैं कि, वह वास्तव में विपदा है ही नहीं। वह वास्तव में विपदा नहीं है।

जिस-जिस प्रकार के अनिष्ट संयोग-वियोग होते हैं, संयोग भी अनिष्ट होता है और वियोग भी अनिष्ट होता है। जिसकी अनुकूलता की कल्पना की है, उसका जब वियोग होता है तब उसे (इष्ट) वियोग कहते हैं। जो प्रतिकूल संयोग हैं, जिसको नहीं चाहते हैं, जिसे चाहा नहीं जाता - ऐसे अनिष्ट प्रकार के संयोगों को अनिष्ट संयोग कहते हैं। अनिष्ट संयोग और इष्ट वियोग - ऐसी दो प्रकार की विपदा हैं। बाहर की संपदा मतलब अनुकूलताएँ। धन-दौलत को तो संपत्ति कहते ही हैं परंतु

शरीर स्वस्थ व सुंदर हो तो उसे भी शरीर संपत्ति कहा जाता है। ठीक वैसे ही बाहर में कुटुंब-परिवार, आबरू, सगे-सम्बन्धी, मित्रों का समूह बड़ा हो तो उन सबको भी अनुकूल संपत्ति गिना जाता है।

संक्षेप में कहे तो सारे जगत में अनुकूलता-प्रतिकूलताओं का जो खेल है, वह अस्ति-नास्ति पर आधारित है। (इसका मतलब) कुछ एक प्रकार के संयोगों की मौजूदगी और कुछ एक प्रकार के संयोगों की गैरमौजूदगी होना, फिर इस पर से जगत के जीवों ने (अनुकूलता-प्रतिकूलता का) एक नापदंड निश्चित किया है। स्वयं की अनेक प्रकार की विभावभावों में उत्पन्न हो रही इच्छाएँ, उन इच्छाओं की पूर्ति व इसमें हो रही कषाय की तीव्रता-मंदता, आकूलता का बढ़ना और कम होना, इस पर अनुकूलता व प्रतिकूलता का स्तर निश्चित किया गया है। पूरा जगत ऐसे ही चलता है कि अनुकूल संयोगों के मिलने पर सुख मिलता है और उन्हीं कहनेमात्र अनुकूल संयोगों की हानि से दुःख है। फिर चाहे आज से दस हजार साल पहले जिसका जन्म हो तो भी उसने ऐसे ही सोचा है और अभी आनेवाले एक लाख-पचास हजार साल बाद भी संसार का जीव ऐसे ही नक्की करेगा।

इस क्षेत्र में जिसका जन्म हुआ वह भी ऐसे ही सोचता है और अन्य क्षेत्र में जिसका जन्म हुआ हो ऐसा संसारी जीव भी ऐसे ही विचार करता है। रशिया और अमेरिकावाला भी कोई संयोग में सुख नहीं है, ऐसा विचार नहीं करता। उसकी दौड़ भी संयोग के सुख के पीछे है। जिस जड़ रजकण में नाममात्र सुख भी नहीं है, सुख का अंश भी नहीं है, अरे...! सुख की गंध तक नहीं है! ऐसे पुद्गल रजकण में बहुत सुख है और वहाँ से सुख मिल सकता है, इसीके पीछे पूरे जगत की दौड़ है और सारी धमाल व घर्षण या लड़ाई के पीछे कोई कारण है तो यही है।

एक जीव को पूरा जगत कम पड़ता है! एक जीव की इच्छा को एनलार्ज किया जाये, तो पूरा जगत उसे कम पड़े ऐसा है। जगत में अनंत जीव हैं, सबको पूरा जगत चाहिए, फिर इसमें घर्षण नहीं होगा तो और क्या होगा? पूरे देश में प्रधानमंत्री की कुर्सी तो एक ही है, लेकिन उम्मीदवार तो बहुत-से हैं। कुछ एक तो बाहर में प्रसिद्धरूप से दिखते हैं लेकिन आम जनता में देखा जाये तो कोई ना करनेवाला नहीं है! फिर इस स्थिति में घर्षण न हो तो और होगा भी क्या?

हमारे एक मित्र थे। वैसे थोड़े सज्जन आदमी थे। 'रविन्द्रनाथ टागोर' की जन्मजयंती आयी तब उन्होंने (मुझे कहा) कि आज पूरे विश्व में रविन्द्रनाथ टागोर की जन्मजयंती मनायी जाएगी। उन्हें लोग सामान्यतः सब 'गुरुदेव' कहते हैं। 'शांतिनिकेतन' की स्थापना उन्होंने की है न! सब उन्हें गुरुदेव कहते हैं।' (मुझे कहा) आज गुरुदेव की जन्मजयंती सारे विश्व में मनायी जाएगी। भले ही वे भारत के आदमी थे लेकिन देखो! इनकी महानता! पूरा विश्व उनकी जन्मजयंती मनायेगा। दूसरे संप्रदाय में भले ही कोई महान पुरुष कहलाते हो, कहलाये गये हो, लेकिन क्या पूरा विश्व उनकी जन्मजयंती मनाता है? जहाँ हुए हो वह-वह संप्रदाय सिर्फ मनाता है। इनकी तो

देखो कितनी बड़ी ख्याति है! बड़े पैमाने में अन्य देश के लोगों ने भी उनका स्वीकार किया है। उसका कारण बतलाते हुए उन्होंने कहा कि, उन्होंने जगत को एक ऐसा सूत्र दिया, ऐसी बात प्रदान की, ऐसा बोध दिया, कि मानव-मानव के बीच प्रेम कर्तव्य है, ठीक! मानव-मानव के बीच लड़ाई नहीं करनी चाहिए, अपितु आपस में प्रेम करना चाहिए। जिसके कारण जगत के सर्व मनुष्य एक देश और दूसरा देश, ऐसे भेदभाव का त्याग करके उनका आदर करते हैं। इस बात को लेकर उनका आदर किया जाता है। कहनेवाले भाई जैन ही थे इसलिए मैंने कहा, 'अच्छी बात है, चलो! लेकिन मैं पूछता हूँ कि उन्होंने जो उदार, विशाल विचार प्रदान किया कि किसी भी मनुष्य को एक देश या अन्य देश के मानवी गिनकर घर्षण में-लड़ाई में नहीं आकर एक-दूसरे की हिंसा नहीं करनी चाहिए परंतु आपस में प्रेम करना चाहिए, तो इसके लिए उन्होंने क्या प्रयोग दिया है?' (क्योंकि) यह तो एक थियरी हुई, व्याख्या हुई। (लेकिन) इसके लिये प्रयोग कौन-सा है उनके पास? (तो कहा) 'यह तो मैं नहीं जानता।' तब मैंने कहा 'ऐसे ही बिना सोचे-समझे आप जैसे लोग ही आदर करने लगते हैं। आगे-पीछे कुछ नहीं सोचते।' लेकिन इसका भी कोई प्रयोग तो होना चाहिए न!

जगत में चीज तो मर्यादित है और वह सबको चाहिए फिर इसका घर्षण कैसे मिटाया जा सके? चीज मर्यादित है, जगत के जितने भी पदार्थ हैं, मर्यादित हैं और इसको लेनेवाले अमर्यादित हैं। इस स्थिति में प्रेम कहाँ से रहेगा? कैसे रहेगा? रहेगा ही नहीं। यह बात वास्तविकता से दूर है। वास्तविकता में यह नामुमकिन है। हाँ, यह बात अवश्य है कि, अगर इसका प्रयोग समझाया जाये और ऐसा प्रयोग करने के लिए, अनुसरण करने के लिए सब लोग तैयार हो! सिर्फ बातें करने से कुछ नहीं होता। सूत्र अपनाने के लिए तो तैयार हो

लेकिन साथ ही साथ इसका प्रयोग अपनाने के लिए भी तैयार हो तो ही आपस में प्रेम रह सकेगा।

दृष्टांत ले तो, एक नल में पानी आता हो और चार किरायेदार पानी आने के समय बालटी लेकर पानी भरने आये। अब घर्षण कब होता है? (सब ऐसा कहे कि) 'पहले मैं'! जब तो घर्षण होगा, लेकिन अगर सब ऐसा भाव रखे कि 'पहले आप' तो? तो घर्षण नहीं होगा। हमलोग भले ही साथ-साथ आये लेकिन आप पहले भर लो! आप अपना काम निपटाओ। ऐसा होगा जब तो सामनेवाला भी यही कहेगा कि, नहीं... नहीं... आप पहले भर लो! मुझे क्या फर्क पड़ता है? जब तो घर्षण नहीं होगा। परंतु वह तो तब होगा जब दिल में उदारता और त्याग का भाव होगा। और यह त्याग का सिद्धांत व प्रयोग जैनदर्शन में इस प्रकार प्रतिपादित है कि, 'परपदार्थ तुझे सुख का कारण नहीं है। यह बाहर की संपदा वास्तव में संपदा नहीं है।' यह विषय यह (जैनदर्शन में) है।

इतना तो नहीं इसमें (रविन्द्रनाथ टैगोर ने जो सिद्धांत दिया) जैनदर्शन के सिद्धांत की अपेक्षा से तो संकुचितता है! मानव-मानव का संहार न करे, प्रेम करे-इसको आप भले ही विशालता, विश्व की विशालता मानते हो, लेकिन हम तो इसे संकुचितता में गिनते हैं। जैनदर्शन तो यहाँ तक कहता है कि, एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यंत किसी भी जीव का संहार न हो! ठीक! मानव को बचाने के लिए मछलियों को मारने का कानून घड़ने में आपको कोई दिक्कत नहीं लगती! अभी चलता ही है न! 'मत्स्य उद्योग' राज्य में चलता ही है। गुजरात राज्य में भी चलता है और सभी राज्यों में चलता ही है। जहाँ-जहाँ समुद्रतट होता है वहाँ हजारों-लाखों तो नहीं किन्तु हजारों टन मछलियों को मारा जाता है! हजारों मछलियाँ नहीं, हज़ारों टन मछलियों को मारा जाता है। यह जाफराबाद की खाड़ी और वेरावल का जो समुद्रतट

है, (वहाँ यह उद्योग चलता है)। मछलियों को मारकर रखने के लिए एकड़ों में जगह रखनी पड़ती है! गोदाम में तो उसे रख नहीं सकते। खुली जगह में रखना पड़ता है, सुखाते हैं न! जिसके कारण वहाँ मीलों तक हवा भी प्रदूषित रहती है। वह सब क्यों (चलता) है? क्योंकि मनुष्य को बचाना है। मनुष्य को आहार चाहिए। जब मनुष्य को जिन्दा रहना है तो उसे दूसरे के जीने-मरने की परवाह नहीं रहती है, तो हम तो कहेंगे कि वह विचार संकुचित है। जैनदर्शन की विशालता तो इससे अनंतगुणा विशिष्ट है। लाख-हजार-करोड़ या अरब गुणा विशिष्ट नहीं अपितु अनंतगुणा विशिष्ट है। ऐसे विशाल सिद्धांत जिसमें प्रतिपादित हैं ऐसे जैनदर्शन के संप्रदाय में जब आप हो, फिर भी आप ऐसी महिमा करते हो कि, गुरुदेव की जन्मजयंती कितनी विशालता से मनायी जाती है! अब सोचिये, इस जैनदर्शन के सिद्धांतों के प्रणेता की जन्मजयंती कितनी विशालतापूर्वक मनायी जानी चाहिए? यह विचारणीय विषय है।

(यहाँ) कहते हैं कि ऐसे-ऐसे (जितने भी) नाप हैं, वे अज्ञानतामें से जनित, जड़ रजकण में सुख की हयाती स्वीकार करनेवाले 'अंधश्रद्धालुओं' के द्वारा किया गया है!! ठीक! जगत में 'समझदार' कहलानेवालों को यहाँ तो 'अंधश्रद्धालुओं' के खाते में गिनना पड़े ऐसा है! किसी को पूछे कि आप तो कोई गिने-चुने आदमीओंमें से हो! श्रीमद्जी लिखते ही हैं न एक जगह - 'अति मेघावी पुरुषों को तो जगत भी मान्य करता है।' जो बहुत बुद्धिवान हो उसे तो पूरा जगत सम्मान देता है, कि 'वाकई यह कोई बुद्धिशाली मनुष्य है। उनकी बुद्धि में जो बात आती है इसमें जरूर कुछ समझने योग्य, विचारने योग्य होता है। (अब) उसको अगर पूछा जाये कि इस जड़ रजकणों में अर्थात् अनुकूलता और संपदा में सुख है, ऐसा जो आपने अपनी बुद्धि से नक्की किया उसमें तथ्य कितना है? कि इसमें अंधश्रद्धा है? (क्योंकि)

आप अगर सीधा उसे अंधश्रद्धालु कह दो, तब तो उसे चोट ही लग जाये ऐसा है। अरे! मैं विचारवान आदमी, बिना विचार किये किसी भी बात का स्वीकार न करूँ! लेकिन यह क्या? जन्म हुआ तब से ही साता में सुख, अनुकूलता में सुख (मानता रहा हूँ)! जीव का बचपन से विकास, मनुष्यपर्याय मिली तब से विकास ही ऐसे हुआ है। क्योंकि अनादि के संस्कार लेकर आया है। अनादि से चार संज्ञा तो निगोद के जीव को भी है।

मुमुक्षु :- आहार, भय, मैथून, परिग्रह।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, उन चारों संज्ञा, संज्ञा मतलब इच्छा। इन चारों प्रकार की इच्छाओं में दूसरी सभी इच्छाओं का समावेश हो जाता है। इच्छा की अनुकूलता होने पर उसे सुख लगता है, ऐसा जो उसका अनुभव है, ऐसा जो उसका मंद आकुलता को सुख कहने का-सुख मानने का-सुखरूप अनुभव करने का जो अनुभव का प्रकार है, उसे मूलमें से यहाँ पर पलटाते हैं! वाक्य तो इतना-सा है किन्तु अंदर बात बहुत भर दी है। **‘बाहर की विपदा-यह वास्तविक विपदा नहीं। बाहर की संपदा-यह संपदा नहीं है।’** बात तो इतनी-सी है लेकिन उसमें बहुत कुछ भरा है।

एक तर्क हो सकता है कि, शरीर में असाता की वेदना शुरू हो तब उसे विपदा न कहे तो और क्या कहे? यह प्रश्न हो सकता है कि नहीं? पीड़ा शुरू हुई, वेदना उत्पन्न हुई, एक्सिडेन्ट होता है, रोग होता है, अनेक प्रकार होते हैं कि नहीं? किसी न किसी कारण से शरीर में अगर पीड़ा शुरू हुई तो उसे विपदा नहीं कहेंगे तो (और) क्या कहेंगे? क्या वास्तव में वह विपदा नहीं है? यह प्रश्न होना संभवित है। यदि (ऊपर जो कही वह बात) सिद्धांत है तो वह यहाँ किस प्रकार लागू होता है? वह ऐसे कि, वास्तव में वह पीड़ा और वेदना की सत्ता जीव के मूलस्वरूप में नहीं है, जीव के स्वरूप में नहीं है। अब, अगर जीव के स्वरूप में नहीं है (तो हकीकत)

क्या है? कि, वह पुद्गल परमाणुओं का परिणमन है। हकीकत में तो वह पुद्गल परमाणुओं का परिणमन है।

जैसे वातावरण में रहे शीत परमाणुओं का अनुभव शीतरूप होता है, उष्ण परमाणुओं का अनुभव उष्णतारूप होता है, यानि कि उसका ज्ञान होता है। शीत-उष्ण का जीव को ज्ञान होता है। लेकिन जहाँ यह ज्ञान हुआ, (यानि कि) जिस जीव को ज्ञान हुआ, जिस पर्याय में इसका ज्ञान हुआ वहाँ वह ज्ञान शीत या उष्णरूप परिणमन नहीं करता है। भले ही कोई जीव ऐसा कहे कि मुझे ठंडा लगा, मुझे गरम लगा; (लेकिन) वस्तुस्थिति अनुसार तब जीव का या जीव की पर्याय का शीत या उष्णरूप परिणमन होना अशक्य है। ऐसी कोई शक्यता नहीं है कि जीव की पर्याय में-जाननेवाले ज्ञान में शीतपना या उष्णपना उत्पन्न हो। क्योंकि वह तो जड़ की-(पुद्गल की) स्पर्शगुण की पर्याय है। जीव में स्पर्श नाम का कोई गुण नहीं होने से ऐसी कोई पर्याय ही उत्पन्न नहीं होती है।

जैसे शीत-उष्णरूप होना आत्मामें, जीव में अशक्य और असंभवित है, वैसे ही वेदना (अशाता) की जो पर्याय है वह भी जड़ की अशाता प्रकृति का स्वाद है। वह भी जड़ की अशाता प्रकृति का स्वाद है। तत्संबंधित जीव को ज्ञान होता है। परंतु इस अशाता की हयाती, पीड़ा की हयाती, वेदना की हयाती का ज्ञान की हयाती में प्रवेश नहीं हो सकता-वहाँ उसका प्रवेश नहीं है। वहाँ इसका स्पर्शमात्र नहीं है!! ज्ञान को वह वेदना स्पर्श नहीं कर सकती। ज्ञान में मालूम भले ही हो (किन्तु स्पर्श नहीं कर सकती)। जब भाई का हाथ कट गया था तब यह चर्चा एम्ब्युलन्स में चलती थी। देखो! यह वेदना है वहाँ ज्ञान नहीं है, और ज्ञान है वहाँ ज्ञान की सत्ता में वेदना नहीं है। बहुत प्रमोद से सुनते थे। पुनः कहो, पुनः कहो। ऐसा कहते थे। भेदज्ञान का विषय है न। इसलिये उदय को पकड़कर वहाँ विषय चलता था कि इस वेदना की सत्ता में ज्ञान नहीं है और ज्ञान की सत्ता में वेदना नहीं है।

चाहे जिस प्रकार से वेदना उत्पन्न हुई हो, फिर भी उन दोनों की सत्ता भिन्न-भिन्न है। अतः यह वेदना जो है वह वास्तव में विपदा नहीं है। वेदना है वह विपदा नहीं, लेकिन यह मृत्यु जो होती है वह तो विपदा है कि नहीं? (हमलोग) वेदना से थोड़े आगे चले, तो क्या (वह भी विपदा) नहीं? लेकिन सारी दुनिया के आगे आपका मत कितने प्रतिशत में? क्या बहुमत से नक्की नहीं करना पड़ेगा? दुनिया में तो यही नापदंड है कि सब बहुमत से नक्की करना! (यहाँ) कहते हैं कि सत्य-असत्य को प्रतिशत लागू नहीं होता।

‘रत्नकरंड श्रावकाचार’ में भगवान समंतभद्रस्वामी तो ऐसा कहते हैं; वहाँ श्रावक का अधिकार लिया है, स्वयं तो मुनिदशा में है फिर भी अपना अधिकार नहीं लिया, अपितु श्रावक का अधिकार लिया है। फिर मुनि के लिए तो कहने की आवश्यकता भी नहीं रहती है। श्रावकाचार है न! श्रावकाचार लिखा है। मुनिराज स्वयं तो आचार्य हैं। (उन्होंने) श्रावकाचार लिखा है कि, श्रावक को-गृहस्थ को भी आयुष्य पूर्ण होने का समय आता है। जिसे आमलोग मृत्यु कहते हैं और जिसके नाम से भी भड़कते हैं, जिसकी बात करने के लिए भी कोई राजी नहीं है! मौत व मृत्यु की बात करने के लिए भी कोई तैयार नहीं होता, इतना तो उसे अशुभ गिना गया है। ‘अशुभ समाचार’ ऐसा लिखते हैं कि नहीं? अशुभ पत्र लिखते हैं। समंतभद्राचार्य कहते हैं कि वह तो साधक का ‘मृत्यु महोत्सव’ है। ‘मृत्यु महोत्सव’! सिर्फ उत्सव नहीं उसे ‘महा उत्सव’ कहा है। देखिये! क्या कहा! वह तो शुभ प्रसंग है, ऐसा कहते हैं। महोत्सव को तो अशुभ कहे या शुभ ! नापदंड ही पूरे अलग हैं। लौकिक और अलौकिक में गिनती का प्रकार उल्टा-सुल्टा है। क्योंकि एक संसारमार्ग के प्रति ले जाता है जब कि दूसरा मोक्षमार्ग के प्रति ले जाता है। इस तरह दोनों के बीच बड़ा अंतर है, जबरदस्त फर्क है। (‘मृत्यु महोत्सव’ कहा

है) क्योंकि ऐसे मृत्यु के प्रसंग में सम्यग्दृष्टि-श्रावक साधक जो हैं वे विशेष आत्मिक पुरुषार्थ करते हैं। शुद्ध चैतन्य की हयाती का अधिक बलपूर्वक वेदन और अनुभव करते हैं।

पूज्य सोगानीजी लिखते हैं कि, कोई-कोई साधक तो शुद्धोपयोग में देहत्याग करते हैं। ठीक! ‘मृत्यु के लिए तैयार रहना।’ आता है न? २-४ बोल लिखे हैं। मृत्यु के लिए तैयार रहना! अभी से उसके परिणाम में इतनी सावधानी है कि किसी भी समय, किसी भी क्षण में देहत्याग का प्रसंग आ जाये, तो एकदम एक सेकेंड में अंतर सावधानी में आकर, पुरुषार्थ को एक सेकेंड में इतने जोर से प्रगट कर लेता है, वह भी सहजरूप से! प्रगट करना मतलब कृत्रिमता से नहीं, सहजरूप से प्रगट होता है, वह ऐसे कि कुछ एक साधक तो शुद्धोपयोग में देहत्याग करते हैं। ठीक! कैसी बात ली है! ‘मुझे कुछ सुनाईये’ यह बात भी उन्हें नहीं रहती। ठीक! ऐसे लिया है। तू दूसरे का लक्ष्य क्यों करता है? कि मुझे आप धर्म सुनाओ! धर्मो ऐसा जो आत्मा, अनंतगुण निधान, वह तो स्वयं तू ही हो, तेरे पास ही है, उसे संभाल न! उसकी संभाल में धर्म है। अतः वास्तव में तो मृत्यु के काल में जैसी जिस साधक की योग्यता (हो वैसी साधना में वह आ जाता है)। योग्यतावान जीव को तो प्रत्येक प्रतिकूलता अनुकूलता समान ही हो जाती है। प्रतिकूलता, प्रतिकूलता नहीं रहती अपितु अनुकूलता हो जाती है।

श्रीमद्जी एक जगह ऐसा कहते हैं कि इस काल में मुमुक्षु जीव को प्रतिकूलताओं का उत्पन्न होना, यह तो संसार से तिरने के बराबर है। ऐसा लिखा है! ठीक! जगत के जीव ऐसा चाहते हैं कि वर्तमान में मुझे सब अनुकूल रहे, और मेरे भविष्यकाल में आनेवाले सभी प्रसंग अनुकूलता में व्यतीत हो! निर्विकल्परूप से सबका ऐसा अभिप्राय है। विचार किया हो चाहे नहीं किया हो।

(प्रवचन का शेष अंश पृष्ठ सं.१७ पर)

पूज्य बहिनश्री की वीडियो तत्वचर्चा मंगल वाणी-सी.डी. ७-C

समाधान :- .. आश्रय साथ में चाहिये। गुरु क्या कहते हैं? शास्त्र में क्या आता है? गुरु क्या कहते हैं? उसका आश्रय लेकर स्वयं अपना स्वाध्याय अंतर क्या है? उस आशय को ग्रहण करके स्वयं क्या समझाते हैं और गुरुने क्या कहा है? आश्रयसे तुझे अन्दर ज्ञायक प्रगट होगा। स्वयं के निज स्वाध्याय में भी गुरु के मार्ग बतलाया वह अपने स्वभाव के साथ है। शास्त्र स्वाध्याय भी साथ में होता है, अपना निज का आलम्बन साथ में होता स्वाध्याय, अपनी मति कल्पनासे मार्ग अर्थ अपने आप करना मुश्किल पड़ता है। मुश्किल पड़ता है। गुरुने क्या कहा है? गुरु का आशय ग्रहण करके स्वयं खुद प्रयोजनभूत तत्त्व को पहचान ले, प्रयोजनभूत को पहचाने तो उसे तिरना सरल हो जाता है।



में करे। गुरुने क्या कहा है? गुरु का आशय अपना स्वाध्याय करे तो उसे यथार्थ गुरु कि ज्ञायक आत्मा का आश्रय कर। उस उसमें गुरु का आश्रय साथ में चाहिये। आश्रयसे जो स्वाध्याय करे, गुरुने जो मिलान करके निश्चय करे तो आगे जाता गुरु का आश्रय साथ में होता है और है। यह सब हो तो आगे जाता है। अपना पहचानना मुश्किल पड़ता है। शास्त्र के अपना स्व-अध्याय भी अपने आप करना का आश्रय लेकर और यदि तिरने और गुरु

ज्ञायक का आश्रय मुख्य है। अपना स्वाध्याय मुख्य है। लेकिन उसे समझने के लिये, शास्त्र को समझने के लिये, निजात्मा को पहचानने के लिये, प्रयोजनभूत तत्त्व को पहचानने के लिये स्वयं तत्त्व का विचार करे। लेकिन उसमें गुरु का आश्रय उसे साथ में होता है। उनका आशय समझना चाहिये। अपनी मति कल्पनासे अर्थ करे, अपनी मति कल्पनासे विचार करे उसमें (भूल होने की संभावना है)। आशय समझकर विचार करे और ज्ञायक का आश्रय ले तो आगे जाता है। अपने स्वाध्याय में ज्ञायक का आश्रय ग्रहण करे, ज्ञायक का निश्चय करे, गुरुने क्या कहा है ऐसा समझकर ज्ञायक का आश्रय ग्रहण करे। .. लेकिन ज्ञायक का आश्रय जो मुख्य है उसका आश्रय ग्रहण करे, ज्ञायक जो मूल तत्त्व है उसे ग्रहण करे, उसका आश्रय सम्यक्पने ले तो ज्ञायक का आश्रय उसके लिये तिरने का कार्य करता है। स्वयं को पहचानकर होना चाहिये। यथार्थ हो तो आगे जाता है।

अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को पहचाने, अपना निश्चय करे लेकिन आश्रय ज्ञायक का होना चाहिये। उसमें गुरु क्या कहते हैं, यह आश्रय साथ होना चाहिये। शास्त्र हो, अपना स्वाध्याय हो, सब हो, गुरु का आश्रय हो लेकिन निज ज्ञायक का आश्रय ले तो आगे जाता है।

मुमुक्षु :- आश्रय स्वयं का लेना है और चाबी गुरुगमसे प्राप्त करनी है।

समाधान :- हाँ, गुरुसे चाबी लेनी है।

मुमुक्षु :- तो आगे बढ़ सकता है।

समाधान :- तो आगे जाता है। तो किनारा पार करता है, समुद्र तिर जाता है।

मुमुक्षु :- गुरु के आश्रय में क्या (कहना है)

समाधान :- गुरु क्या कहते हैं? गुरु का आशय ग्रहण करना। गुरु तत्त्व का स्वरूप कैसे कहते हैं? द्रव्य-गुण-पर्याय का, आत्मा भिन्न है, आत्मा ज्ञायक है, आत्मा में सुख है, विभाव अपना स्वभाव नहीं है, गुरु क्या कहते हैं, उनका आशय ग्रहण करना। इसप्रकार निर्णय (करना)। अपने स्वाध्याय में गुरु का आश्रय लेकर विचारकर निर्णय करे और फिर ज्ञायक का आश्रय ले तो तिर जाता है।

मुमुक्षु :- गुरुदेवश्री के वचनमृत में एक बोल में ऐसा आता है कि परमार्थसे यह जाननेवाला है वही एक मैं हूँ, ऐसा अस्ति का ज़ोर आना चाहिए, तो कार्य होता है। वहाँ क्या कहना चाहते हैं? परमार्थसे यह जाननेवाला है वही एक मैं हूँ, ऐसे खुद की हयाती को अस्तिरूपसे देखे तो स्वयं ही है, दूसरा नहीं।

समाधान :- दूसरा कुछ नहीं है। एक ज्ञायक अपने अस्तित्व का ज़ोर आना चाहिये। मेरे ज्ञायक में अन्य कुछ भी नहीं है। यह विभाव की पर्याय मेरे मूल स्वभाव में नहीं है। मैं एक ज्ञायक ही हूँ, इसप्रकार अपने अस्तित्व का ज़ोर आना चाहिये। मैं ज्ञायक हूँ, मेरा स्वरूप ज्ञायक है, मैं ही ज्ञायक हूँ, ऐसा अपना ज़ोर अन्दरसे आना चाहिये। ज्ञानस्वरूप वस्तु वही मैं हूँ, ऐसे ज़ोर आये उसका आश्रय ले तो ही उसकी श्रद्धा होती है, तो ही वह आगे बढ़ता है।

मुमुक्षु :- मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, ऐसा ज़ोर आनेसे तो परिणति ज्ञायक में ढल जाती होगी?

समाधान :- परिणति ज्ञायक की ओर जाये। जिसे ज्ञायक के आश्रय का ज़ोर आया उसे रुचि स्वयं की ओर जाती है तो पुरुषार्थ भी स्वयं की ओर जाता है। इसलिये परिणति स्वयं की ओर आये बिना रहती नहीं। फिर विभाव में अटक नहीं सकती। उसकी अधिकसे अधिक ज्ञायक की ओर ही परिणति जाती है।

मुमुक्षु :- मैं ज्ञानस्वरूप वस्तु हूँ अर्थात् मैं द्रव्य-गुण-पर्याय तीनोंसे ज्ञानस्वरूप एक ही मैं हूँ, ऐसे अपने प्रमाणभूत अस्तित्व पर ज़ोर आनेसे क्या परिणति ज्ञायक की ओर ढल जाती है? मैं ज्ञायक हूँ, वह बात अलग रही और मैं मात्र ज्ञानस्वरूप आत्मा ही हूँ, मेरी अपेक्षासे अन्य कोई नहीं है, ऐसा अपने द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक चैतन्य स्वरूप का ज़ोर आये तो क्या परिणति अंतर में ढल जाती होगी?

समाधान :- तो भी ढलती है। मैं ज्ञायक हूँ, ऐसा आये तो भी ढलती है। जिसे, मैं द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप हूँ, उसे भेद का लक्ष्य छूटकर और मैं ज्ञायक हूँ, वह भी उसके साथ होता है और उसे द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप हूँ, ऐसा भी उसे साथ होता है। दोनों साथ में होता है। साथ में ज़ोर आये तो भी वह विभावसे छूट जाता है। दोनों ज़ोर साथ होते हैं। द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप मैं अखण्ड वस्तु हूँ। और द्रव्यदृष्टि के ज़ोर में गुण-पर्याय का लक्ष्य उसे होता ही नहीं। दोनों ज़ोर साथ में हो तो स्वयं की ओर ढल जाता है। पूर्ण जाने तो उसे परसे छूटने में उसे रोकता नहीं, ज्ञान सच्चा हुआ इसलिये उसे रुकना पड़े ऐसा नहीं है। अस्तित्व के ज़ोर में द्रव्य-गुण-पर्याय सब जाने तो अपनी ओर ही ढलता है, वह उसे रोकता नहीं, सच्चा ज्ञान उसे रोकता नहीं।

मुमुक्षु :- मैं ज्ञायक हूँ, ऐसा ज़ोर आये अथवा मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, ऐसा ज़ोर आये तो भी परिणति अंतर में ढलती है?

समाधान :- परिणति अंतर में जाती है।

मुमुक्षु :- अस्तित्व की जो श्रद्धा की कि यह है, ऐसा द्रव्य है, इसप्रकार द्रव्य पर अस्तित्व की न? द्रव्य की मौजूदगी है..

समाधान :- दृष्टि करनी, समझकर दृष्टि करनी कि ज्ञायक का अस्तित्व है वही मैं हूँ।

मुमुक्षु :- ज्ञायक है वही मैं हूँ।

समाधान :- वही मैं हूँ।

(पूज्य भाईश्री शशीभाई प्रवचन...)

यह पूरी लाईन दूसरी है। यहाँ तो कहते हैं कि मुमुक्षु जीव को इस काल में प्रतिकूलताओं का उत्पन्न होना, यह तो संसार से तिरने के बराबर है। क्योंकि संसार का सही स्वरूप उस वक्त देखने का अवसर प्राप्त होता है।

प्रतिकूलता में होता क्या है कि, तब अनुकूल चलनेवाले भी प्रतिकूल चलने लगते हैं। जिसके प्रति जीव को ममत्व हो वह कितना निरर्थक था, यह स्पष्ट समझने का तब अवसर प्राप्त होता है। जो बहुत नजदीकी संबंध रखता हो, जैसे कुटुंब-परिवार में लड़का, लड़की, पिता, माता, पति, पत्नी जो बहुत नजदीक हो, वे जब प्रतिकूल होने लगते हैं तब जीव को लगता है कि मैं व्यर्थ ही ममता कर रहा हूँ। जो ममता कर-करके मैं भवभ्रमण बढ़ाता हूँ, यह कितनी मूर्खता है, यह तब उसकी समझ में आता है। यहाँ (समझने का) अवसर प्राप्त होता है। इस निमित्त से अवसर मिलता है।

वरना अनुकूलता की कल्पना तो जीव को इतनी हद तक है कि अनुकूलता की जबरदस्त इमारतमें से एक ईंट भी हिल जाये, यह जीव को नहीं पुसाता है! अनुकूलता के महल में एक खूँटी भी इधर से उधर लगनी नहीं चाहिए- ऐसी जीव की इच्छा है। उसमें अनंत अनुबंध करनेवाले चारों कषाय मौजूद हैं - अनंतानुबंधी के चारों कषाय मौजूद हैं। संपदा की जितनी वांछा है इसमें अनंतानुबंधी के चारों कषाय समाविष्ट हैं। एक भी कषाय बाकी नहीं है।

(२८:०० मिनट तक, प्रवचन का शेष अंश अगले अंक में...)

वीर निर्वाणकल्याणक के पावन प्रसंगपर १००८ श्री महावीरस्वामी
के पावन चरणों में कोटि-कोटि प्रणाम एवं
मंगलमय सुप्रभात की शुभकामना

शासननायक अंतिम तीर्थाधिनाथ श्री महावीरप्रभु के निर्वाणकल्याणक के पावन प्रसंगपर उनके चरणों में वंदन करते हुए, मंगलमय सुप्रभात की प्राप्ति कर अनन्त काल से चल रहे जन्म-मरण की श्रृंखला का छेद करने की मंगलमय भावना के साथ स्वानुभूतिप्रकाश परिवार, सभी पाठकों को शुभकामना प्रेषित करता है।

उपर्युक्त बातोंमेंसे आपको जो सुगम लगें वे पूछें। एककी भी सुगमता न हो तो एक भी न पूछें; तथा इन बातोंका प्रेरक कौन है? यह न बतायें।

खंभातसे श्री त्रिभोवनदासकी यहाँ आनेकी इच्छा रहती है, इस इच्छामें मैं सम्मत हूँ। आप उन्हें रतलामसे पत्र लिखें तो आपकी बंबईमें जब स्थिति हो, तब उन्हें आनेकी अनुकूलता हो तो आनेमें मेरी सम्मति है, ऐसा लिखियेगा।

आप कोई मुझसे मिलने आये है; यह बात खीमजी आदिसे भी न कहना। यहाँ आनेका कोई व्यवहारिक कारण हो तो उसे अवश्य खीमजीसे कहना।

यह सब लिखना पड़ता है इसका उद्देश मात्र यह एक प्रवृत्तियोग है। ईश्वरेच्छा बलवान है, और सुखदायक है। यह पत्र वारंवार मनन करने योग्य है।

वारंवार मनमें यह उठता है कि क्या अबंध बंधनयुक्त हो सकता है? आप क्या मानते हैं?

वि. रायचन्दके प्रणाम।

२३७

बंबई, चैत्र वदी २, शनि, १९४७

सुज्ञ भाई त्रिभोवन,

“परेच्छानुचारीको शब्दभेद नहीं है।” इस वाक्यका अर्थ समागममें पूछिये।

परम समाधिरूप ज्ञानीकी दशाको नमस्कार।

२३८

बंबई, चैत्र वदी ३, रवि, १९४७

उस पूर्णपदकी ज्ञानी परम प्रेमसे उपासना करते हैं।

चारेक दिन पहले आपका पत्र मिला। परम स्वरूपके अनुग्रहसे यहाँ समाधि है। आपकी इच्छा सद्वृत्तियोंकी प्राप्तिके लिये रहती है; यह पढ़कर वारंवार आनंद होता है।

चित्तकी सरलता, वैराग्य और ‘सत्’ प्राप्त होनेकी अभिलाषा-ये प्राप्त होने परम दुर्लभ है; और उनकी प्राप्तिके लिये परम कारणरूप सत्संगका प्राप्त होना तो परम परम दुर्लभ है। महान पुरुषोंने इस कालको कठिन काल कहा है, उसका मुख्य कारण तो यह है कि जीवको सत्संगका योग मिलना बहुत कठिन है, और ऐसा होनेसे कालको भी कठिन कहा है। मायामय अग्रिसे चौदह राजूलोक प्रज्वलित है। उस मायामें जीवकी बुद्धि अनुरक्त हो रही है, और इस कारणसे जीव भी उस त्रिविध ताप-अग्रिसे जला करता है; उसके लिये परम कारुण्यमूर्तिका उपदेश ही परम शीतल जल है; तथापि जीवको चारों ओरसे अपूर्ण पुण्यके कारण उसकी प्राप्ति होना दुर्लभ हो गया है। परन्तु इसी वस्तुका चिंतन रखना। ‘सत्’ में प्रीति, ‘सत्’ रूप संतमें परम भक्ति, उसके मार्गकी अभिलाषा, यही निरंतर स्मरण करने योग्य हैं। उनका स्मरण रहनेमें वैराग्य आदि चरित्रवाली उपयोगी पुस्तकें, वैरागी एवं सरल चित्तवाले मनुष्योंका संग और अपनी चित्तशुद्धि, ये सुन्दर कारण हैं। इन्हींकी प्राप्तिकी रटन रखना कल्याणकारक है। यहाँ समाधि है।

२३६

बम्बई, चैत्र सुदी १५, गुरु, १९४७

सुज्ञ भाई श्री अंबालाल,
यहाँ कुशलता है। आपका कुशलपत्र प्राप्त हुआ। रतलामसे लौटते हुए आप यहाँ आना चाहते हैं, उस इच्छामें मेरी सम्मति है। वहाँसे बिदा होनेका दिन निश्चित होनेपर यहाँ दुकानपर पत्र लिखियेगा।

आप जब यहाँ आये तब, आपका हमारेमें जो परमार्थ प्रेम है वह यथासंभव कम ही प्रगट हो ऐसा कीजियेगा। तथा निम्नलिखित बातें ध्यानमें रखेंगे तो श्रेयस्कर है।

१. मेरी विद्यमानतामें श्री रेवाशंकर अथवा खीमजीसे किसी तरहकी परमार्थ विषयक चर्चा नहीं करना (विद्यमानतामें अर्थात् मैं पास बैठा हूँ तब)।

२. मेरी अविद्यमानतामें उनसे गंभीरतापूर्वक परमार्थ विषयकी चर्चा हो सके तो जरूर करें, कभी रेवाशंकरसे और कभी खीमजीसे।

३. परमार्थमें नीचे लिखी बातें विशेष उपयोगी है—

(१) पार होनेके लिये जीवको पहले क्या जानना चाहिये ?

(२) जीवके परिभ्रमण होनेमें मुख्य कारण क्या ?

(३) वह कारण कैसे दूर हो ?

(४) उसके लिये सुगमसे-सुगम अर्थात् अल्पकालमें फलदायक हो ऐसा उपाय कौनसा है ?

(५) क्या ऐसा कोई पुरुष होगा कि जिससे इस विषयका निर्णय प्राप्त हो सके ? इस कालमें ऐसा पुरुष हो सकता है ऐसा आप मानते हैं ? और यदि मानते हैं तो किन कारणोंसे ? ऐसे पुरुषके कोई लक्षण होते हैं या नहीं ? अभी ऐसा पुरुष हमें किस उपायसे प्राप्त हो सकता है ?

(६) यदि हमारे संबंधी कोई प्रसंग आये तो पूछना कि 'मोक्षमार्ग'की इन्हें प्राप्ति है, ऐसी निःशंकता आपको है ? और है तो किन कारणोंसे ? ये प्रवृत्तिवाली दशामें रहते हों, तो पूछना कि इस विषयमें आपको विकल्प नहीं आता ? इन्हें सर्वथा निःस्पृहता होगी क्या ? किसी तरहके सिद्धियोग होंगे क्या ?

(७) सत्पुरुषकी प्राप्ति होनेपर जीवको मार्ग न मिले, ऐसा संभव है क्या ? ऐसा हो तो इसका क्या कारण ? यदि जीवकी 'अयोग्यता' बतानेमें आये तो वह अयोग्यता किस विषयकी ?

(८) खीमजीसे प्रश्न करना कि क्या आपको ऐसा लगता है कि इस पुरुषके संगसे योग्यता प्राप्त होनेपर इससे ज्ञानप्राप्ति हो सकती है ?

इत्यादि बातोंकी चर्चा प्रसंगानुसार करें। एक एक बातका कोई निर्णायक उत्तर उनकी तरफसे मिलनेपर दूसरे प्रसंगपर दूसरी बातकी चर्चा करें।

खीमजीमें कुछ समझनेकी शक्ति ठीक है ; परन्तु योग्यता रेवाशंकरकी विशेष है। योग्यता ज्ञान-प्राप्तिके लिये अति बलवान कारण है।

